करुणायतन

करुणायतन

ओमप्रकाश खण्डेलवाल

अर्चना प्रकाशन, प्रतापगढ़

करुणायतन के सम्बन्ध में

करुणायतन मानव-मन की सहज रागात्मक अनुभूतियों को चित्रित करने वाला एक प्रगीति-काव्य है। यह प्रेम-सम्बन्धों से निःसृत होने वाले इन्द्रधनुषी मनोभावों का प्रतिबिम्बन करता है। इस कृति में संयोग-वियोग और राग-विराग के संघर्षपूर्ण अंतर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति रूपायित हुई है। प्रस्तुत काव्य में, कहीं खिलखिलाता हुआ सवेरा मिलेगा तो कहीं शाम का सन्नाटा, कहीं मन को गुदगुदाती हुई ऊषा की अँगड़ाई मिलेगी तो कहीं डबडबाई आँखों वाली उदास साँझ, कहीं मीठी-मीठी धूप होगी तो कहीं काँटों सी कसकती छाया, कहीं स्नेह की सरस फुहारें होंगी तो कहीं यंत्रणा-दायक आतप से अखरते वियोग के क्षण होंगे, कहीं तीरों सी चुभती हुई रिमझिम बरसातें मिलेंगी तो कहीं समर्पण की सुगंध से महकते हुए क्षण मिलेंगे—परन्तु सभी अभिव्यक्ति के लिए विवश मनोभावों को व्यक्त करते हुए मिलेंगे।

हमारे शास्त्रों में चर्चित पुरुषार्थ-चतुष्ट्य में धर्म को आधार, मोक्ष को साध्य, अर्थ और काम को साधन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। काम मनुष्य के स्वभाव का अभिन्न अंग है। काम से असंपृक्त व निर्लिप्त प्राणी की कल्पना लौकिक धरातल पर संभव नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में अना-सक्ति को द्योतित करने वाली निष्कामता में भी काम को मानव के स्वभाव-लक्षण की स्वीकृति प्रदान की गयी है। कामना एवं आसक्ति रजोगुण के कारण और परिणाम दोनों है। बीज और वृक्ष की भाँति कामना और रजोगुण का परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा संगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसंगेन देहिनम् ॥[1]
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव !
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥[2]

[त्रिगुणातीत पुरुष वह है जो सत्त्वगुण से उद्भूत प्रकाश और रजोगुण जन्य प्रवृत्ति तथा तमोगुण से उत्पन्न व्यामोह से, प्रवृत्तावस्था में न तो द्वेष करता है और न निवृत्तावस्था में उनकी आकांक्षा करता है]

परन्तु लौकिक धरातल पर दैवी गुणों से संपन्न, ऐसे स्थितप्रज्ञ, महापुरुष की परिकल्पना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। हाँ, जिस व्यक्ति ने जिस अंश तक अपने आपको निःसंग और निस्पृह कर लिया है उस अंश तक उसने अपने व्यक्तित्व में देवत्व को समाहित कर लिया है।

इस संदर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

'मनुष्य ने जिस प्रमाण में बुद्धि अर्जित की उसी परिमाण में उसने सहज प्रवृत्ति (इंस्टिक्ट) की शक्ति को खो दिया।....पशु का सारा जीवन सहज प्रवृत्ति से चलता है, केवल उसके किनारे-किनारे बुद्धि की हल्की झालर विद्यमान है और मनुष्य के जीवन का आधार बुद्धि हैं, सहज प्रवृत्ति, कभी-कभी ही बिजली की तरह उसमें कौंध जाती है।
....अर्थ और काम, ये जैव धरातल के पुरुषार्थ हैं, किन्तु धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है। बुद्धि इन दोनों धरातलों की सेविका और सहायिका है। किन्तु अर्थ की सेवा वह जितनी सहजता से करती है, उस सहजता से वह धर्म और काम की सेवा नहीं कर सकती।....धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है, किन्तु सार्थकता उसकी तब है जब वह जैव धरातल पर आकर हमारे आचरणों को प्रभावित करे। कला, सुरुचि,

---

१. श्लोक-संख्या ७, चौदहवाँ अध्याय, श्रीमद्भगवद्गीता।
२. श्लोक-संख्या २२, चौदहवाँ अध्याय, श्रीमद्भगवद्गीता।

सौन्दर्य बोध और प्रेम, इनका जन्म जैव धरातल पर होता है, किन्तु सार्थकता इनकी तब सिद्ध होती है जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करते हैं।....मनुष्य में जो लोग पशुता से जितनी दूर हैं, वे काम के सूक्ष्म सुखों का स्वाद उतना ही अधिक जानते हैं।....प्रेम में भी भूतल से उठकर भूतलोतर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर अरूप का सन्धान करने की प्रेरणा होती है। अपने स्थूल से स्थूल रूप में प्रेम एक मानव का दूसरे मानव के साथ एकाकार होने का सबसे सहज, सबसे स्वाभाविक मार्ग है, किन्तु विकसित और उदात्त हो जाने पर तो मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है, जो धर्म का अवदान है।

धर्मादर्थो अर्थतः कामः कामाद् धर्म-फलोदयः।

(पद्म पुराण)

....देवता वह नहीं जो सब कुछ को पीठ देकर, सबसे भाग रहा है। देवता वह है जो सारी आसक्तियों के बीच अनासक्त है, सारी स्पृहाओं को भोगते हुये भी निस्पृह और निर्लिप्त है।'[3]

आसक्तिजन्य कर्म राग है, आसक्तिहीन कर्म विराग। राग प्रवृत्ति है तो विराग निवृत्ति। राग और विराग एक निष्क के दो पृष्ठ, एक अविभाज्य सत्ता के दो छोर हैं। जिस प्रकार विद्युत् के प्रकाश के लिये ऋणात्मक और धनात्मक तरंगों का योग आवश्यक है उसी प्रकार ऊर्जा और आलोक की आपूर्ति के लिये जीवन में इन दोनों का होना अपरिहार्य है। राग विराग का जनक है और विराग राग का अक्षय स्रोत। कामना की सरिता में सराबोर मन किनारा चाहता है और तट पर बैठा मनुष्य काम की लहरों से खेलना चाहता है। संयोग की सरस फुहारों में भीगा हुआ मन वियोग की कामना करता है और वियोगी रसधार की ओर लोभी दृष्टि से ताकता रहता है। राग और विराग के दो तटों के मध्य जीवन की लहराती हुई सरिता गतिमान है। रागमयी और विरागमयी अनुभूतियाँ धूप-छाँव की भाँति मानवीय हृदय-पटल पर पारी-पारी से अपने प्रभाव का प्रसार

---

३. 'उर्वशी' भूमिका....दिनकर।

करती रहती हैं। जिस प्रकार सूरज और चाँद के पहियों पर काल का रथ गतिमान है उसी प्रकार राग और विराग के सहयोग से जीवन का स्यंदन गतिशील है। एक दिनारम्भ है दूसरा दिनान्त, एक दिवस है दूसरा निशीथ, एक बिम्ब है दूसरा प्रतिबिम्ब, एक धूप है दूसरा छाँव, एक तृप्ति का उत्कर्ष दूसरा अतृप्ति का उत्कर्ष, एक आदि है दूसरा अंत। इस प्रकार राग और विराग का चक्र निरंतर घूमता रहता है। जो राग प्रकाशवान लगता है वही स्नेह-संबंधों के उत्कर्ष विन्दु पर पहुँचने के बाद अन्धकारमय, वितृष्णा उत्पन्न करने लगता है और जो विराग पहले तिमिर-सा लगता था वही वांछित दीप्तिमान आलोक पुंज भासित होने लगता है।

भारतीय जीवन दर्शन के अनुसार स्त्री-पुरुष अलग-अलग स्वतंत्र इकाइयाँ न होकर एक संपूर्ण इकाई के दो अर्द्धांश हैं। वे जीवन रूपी चौपाई की दो-दो पंक्तियाँ हैं। अपने आप में दोनों अपूर्ण हैं और इनके परस्पर संयोग से ही एक परिपूर्ण मानवीय इकाई की परिकल्पना संभव है। स्त्री में पुंसत्व और पुरुष में स्त्रीत्व की विद्यमानता एक सच्चाई है। इसी सत्य का उद्‌घाटन करते हुए गुलाब खंडेलवाल कहते हैं :—

"कहा, सुना, रूठा, मना, निजमें ही प्रतियाम।
आधा मन राधा बना, आधा मन घनश्याम॥"[४]

गोस्वामी तुलसीदास ने 'सीय राम मय सब जग जानी' उक्ति से व्यष्टि-गत और समाष्टिगत विभेदों को समाप्त कर समस्त प्राणियों में एकात्मता स्थापित करने वाली समरसता का दिग्दर्शन किया अथच भारतीय जीवन दृष्टि के अनुरूप परिपूर्ण मानव की मौलिक परिकल्पना को भी प्रतिष्ठित किया। इस संदर्भ में डॉ० जगदीश गुप्त के विचार उद्धृत करना समीचीन होगा :—

"भारतीय जीवन दृष्टि मानव की उस अभिन्न इकाई को देख पाने में समर्थ हुई है जो व्यक्ति-व्यक्ति के देहात्मक विभेद को लक्षित करने वाली

---

४. 'रूप की धूप', गुलाब खंडेलवाल।

इकाई से गहरी है क्योंकि उसमें एक दूसरे को पाकर, व्यक्तिगत सीमा से आगे जाकर, पूर्णता की विशद् एवं असाधारण कल्पना की गई है।.... किसी दूसरे की अनुभव-प्रणाली में अपने को ढालकर लिखना एक कौशल एक नाटकीय करिश्मा हो सकता है पर उसे वास्तविकता का निजी रूप कहना संभव नहीं है। कविता सारे कल्पना-विधान को आत्मसात् करती हुई भी, मूल वास्तविकता के खरेपन को न तो झुठलाती है वरन् वह उसे ऐसा निखार दे देती है जो अन्य प्रकार से कदापि संभव नहीं है।.... सामान्यतः अपने को खो देना नितान्त अज्ञान माना जाता है और अपने को पा लेना परम ज्ञान। परन्तु युग्म भूमि पर आकर खोने और पाने का अर्थ ही बदल जाता है। स्नेह-संबंध सदैव खोने और पाने की युगपत प्रक्रिया में सजीव रहते हैं अतः उनमें ज्ञान और अज्ञान का अदभुत मिश्रण रहता है। एक सिरे पर प्रेम अंधता का पर्याय बन जाता है तो दूसरे सिरे पर वही दिव्य ज्योति का प्रतीक हो जाता है। एक बिन्दु पर रागात्मक संबंध निरर्थक लगते हैं तो दूसरे बिन्दु पर वही सार्थक प्रतीत होने लगते हैं।"[५]

कहीं और हो अथवा न हो परन्तु साहित्य के धरातल पर ईमानदारी एक मूल्यवान वस्तु है। रचनाधर्मी के लिये सच्चाई से आँख मूंदकर एक पग भी चल पाना संभव नहीं है। लौकिक धरातल पर मनुष्य ही नहीं अपितु मानवेतर प्राणी भी विभेद की सीमा-रेखाओं को मिटाते और उनको बनाते दिखाई देते हैं। सभी द्वैत से अद्वैतोन्मुख और अद्वैत से द्वैतोन्मुख दृष्टिगोचर होते हैं।

'युग्मता' की अनुभूति संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। धरातल से उछाली गई वस्तु धरती पर लौटकर क्यों आती है? लहरें परस्पर मिल-मिल कर विलग क्यों हो जाती हैं? दो बिन्दुओं के बीच आकर्षण क्यों होता है?

---

५. 'युग्म' भूमिका 'युग्म के बारे में'।
डॉ० जगदीश गुप्त।

सरितायें सागर की ओर क्यों दौड़ती हैं? पक्षियों के जोड़े क्यों मिलते-बिछुड़ते रहते हैं? व्यक्ति-व्यक्ति के निकट आता और फिर दूर क्यों चला जाता है? वास्तव में नर-नारी, स्त्री-पुरुष, प्रेमी-प्रेमिका के बीच उत्पन्न होने वाले आकर्षण, विकर्षण, राग-विराग, प्रवृत्ति और निवृत्ति जीवन के शाश्वत संबंधों का यथार्थ-बोध कराते हैं।

होली
२६ मार्च, १९८६

ओम प्रकाश खंडेलवाल

प्रिय ! आज सजल सावन सा
बोझिल विरहाकुल मन है,
ओ रूपसि ! रूप तुम्हारा
अंजन सा बना नयन है।

सूने उर के उपवन में
था तुमने किया बसेरा,
एकाकीपन में अगणित
सपनों ने डाला डेरा।

लहरें पछाड़ खा - खाकर
हैं शीश आप ही धुनतीं,
फेनिल - झागों से सुन्दर
सुस्मृतियों के पट बुनतीं।

कुसुमित - कुंजों को छूकर
जब मलय - वात है आता,
सान्निध्य तुम्हारा होने
का भ्रम सहसा हो जाता ।

रजनी की भीगी पलकों
से, करुणा टपक रही है,
या विरह - वेदना मन की
उफनाकर विकल बही है ।

मोहित अलिगण का सुमनों
पर रह रह कर मँडराना,
अधरों का चुम्बन करना
मादक संगीत सुनाना ।

डाला शशि-मुख पर किसने
नीला अंशुक - अवगुण्ठन,
धीरे - धीरे सरकाता
मदमत्त पवन का यौवन।

रजनी मुस्काती पहने
स्वर्णांगा की मृदु माला
हैं चांद दूज का कर में
जैसे मदिरा का प्याला।

श्यामल - अलकों में रजनी
है तारक कुसुम सजाती,
मानस - पट पर यह सुन्दर
छवि मादक चित्र बनाती।

उडुगण ये अंकित नभ पर
ज्यों चुंबन चिन्ह सघन हैं,
या मधुर - मिलन में छूटी
फुलझड़ियों के ये कण हैं।

हो प्रिये ! प्रेम की गंगा
सीपी - सम्पुट से लोचन,
हैं बसे हुये नयनों में
गोकुल, मथुरा, वृन्दावन।

अरुणिम - कपोल पर करतीं
विश्राम लटें घुंघराली,
पाटल के खिले सुमन पर
तितली काली मतवाली।

उस पूर्णचंद्र मुखमण्डल
पर, ध्रुव तारे का टीका,
उन्मुक्त हास सा नभ का
या फूल खिला बिजली का।

रक्तिम - कपोल की लाली
ऊषा ने कहाँ चुरा ली?
मुसकाती सुमन पंखुरियाँ
मादक अधरों की प्याली।

उडुगण हैं नभ के फीके
उन नखतारों के आगे,
अंशुल आभा से लज्जित
हो व्योम छोड़कर भागे।

उस हरी - हरी साड़ी का
आंचल था यों लहराता,
हो पवन शालि - क्यारी पर
शिशुओं सा दौड़ लगाता।

पाँवों में शोभा पाता
रक्ताभ अलक्तक ऐसे,
कोमल - कलियों की रक्षा
हित बाड़रज्जु हो जैसे।

उस शतदलीय आनन पर
थी केश भ्रमर की टोली,
बिखरी सी लगती ऊषा
मुखमण्डल पर ज्यों रोली।

कंचन - सीपी में कुण्डल
लग रहा शालि - बाली सा,
मणि-खचित-ललिता- प्रतिमा की
करता हो रखवाली सा ।

नासिका - पुष्प में हीरे
का कण यों जड़ा हुआ था,
अर्काभा से चकराया
ज्यों जुगनू पड़ा हुआ था ।

अरुणिम - कपोल पर नासा
यों सुन्दर टिकी हुई थी,
शुक - चंचु सेव पर कोई
ज्यों थोड़ी झुकी हुयी थी ।

थी इन्द्र - धनुष सी लगती
सोनल - सुहाग की रेखा,
पुलकित होकर दिनकर ने
वह रूप अनोखा देखा।

कंचन - चूड़ी में सीपज
तारों से जड़े हुये थे,
छवि सम्मुख चन्द्रमुखी के
लज्जा से गड़े हुए थे।

शोभावर्धक मुंदरी में
नग सुन्दर जड़ा हुआ था,
जैसे जुगनू पिंजड़े में
सोने के पड़ा हुआ था।

मेंहदी की शोभा थी यों
जैसे मरंद उत्पल में,
किरणें लिख रहीं ऋचायें
रक्ताभ गौर करतल में।

पथ पर फूलों की घाटी
के, दो प्रेमी से कंगन
खन खन करते आपस में
लगता करते आलिंगन।

नवनीत सदृश कोमलता
थी अंगों में भर लाई,
थी प्रेम - परस पा पिघली
बह निर्झरिणी सी आई।

काला - तिल था अधरों पर
जैसे पाटल पर मधुकर,
उन्मत्त हुआ प्रेमी सा
जी पाये कैसे तजकर।

उन राधा से नयनों में
थे तीनों लोक समाये,
खुलने, मुंदने से जिनके
दिन और रात हो जाये।

चंद्रिका पुष्प - प्यालों से
लेकर पराग मलती थी,
आतुर सुमनों की वीथी
भी इसी हेतु खिलती थी।

हो प्रतिकृति उस शिल्पी की
जिसने यह विश्व बनाया,
भीतर तेरे ही मैंने
दर्शन स्रष्टा का पाया।

कितना आह्लाद भरा था
जब पहली बार मिली थी,
जैसे ऋतुपति के स्वागत
में, कोमल - कली खिली थी।

मादक बांकी चितवन से
चिटका करती थीं कलियाँ,
तब महक उठा करती थीं
पतझड़ की सूनी गलियाँ।

जैसे जड़ता में हिम की
चेतनता बोल रही थी,
जब लजवन्ती सी ऊषा
अवगुण्ठन खोल रही थी।

आशा में प्रथम मिलन की
अरुणा ने घूंघट खोला,
पुलकन कदंब की छहरी
प्रेमी का अंतर डोला।

हिम के उन्नत शिखरों को
जब ऊषा चूमा करती,
रोमावलियों में कंचन
सा राग मधुर थी भरती।

भू के उरोज शिखरों पर
धर शशि व्योम था सोता,
मोती की वर्षा करता
या बीज प्रेम के बोता।

तारक - मण्डित - मण्डप में
उतरी पूनम की डोली,
रत्नाकर ने किरणों की
भर दी रत्नों से झोली।

फूटी पड़ती चितवन से
थी दुग्ध - कुमुद की धारा,
मन - मेघ हुआ बन्दी सा
थी रजत - रश्मि की कारा।

थी दबे पाँव चोरी से
जब शून्य कक्ष में आती,
दो घूंट पिलाकर मदिरा
तुम लूट मुझे ले जाती।

छलनामय हास अधर पर
ले करती बड़ी ठिठोली,
लेकर आश्वासन मधुरिम
आँखों से पट्टी खोली।

कुछ अंतराल होने पर
यों बाहों में कस लेना,
खोया धन पा ज्यों कोई
चाहे न भसे बस देना।

भुज - मूल टेक कन्धों पर
डाली बाँहों की माला,
लतिका सी झुकी बसन्ती
मुख था पराग का प्याला ।

जब जब पराग इन्दीवर
का ओस - बिन्दु ले झरते,
नीलम के दोनों लोचन
थे राग - वृष्टि सी करते ।

भुज - वल्लरियों का आश्रय
मधुमय यौवन का झूला,
जिसके मादक हिलकोरों
में पागल मन था भूला ।

जब चाह रही थी तरणी
वश में आंधी कर लेना,
तब चाह रहे थे झोंके
बस उलट नाव को देना।

लहराती थीं लहरों पर
लहरें, धारों पर धारें,
था चक्रव्यूह भँवरों का
लाचार हुईं पतवारें।

वर्तिका मोम की पिघली
भर गई दीप की प्याली,
जब ढले प्राण प्राणों में
परितृप्ति दीप ने पा ली।

मधुमय थी, मोदमयी थी
मृदु आलिंगन की बेला,
बिजली सी दौड़ गयी थी
जब खेल प्रणय का खेला।

टपका मधूक रस करता
रोमावलियों से जैसे,
मन मधुकर मधुशाला
में, रहता अलिप्त भी कैसे ?

तुम चाह रही हो बाँधूँ
पक्षी निःसीम गगन का,
सोने के पिंजड़े पर भी
रख दूँ पहरा निज मन का।

बजती रहती श्वाँसों में
थी यौवन की शहनाई,
सम्मोहन का जादू सा
करती जीवन में आई।

रजनी गंधा ने तुमसे
थी मादक गंध चुराई,
विश्राम हेतु कुंजों में
थी पल भर को जब आई।

निःश्वासों में मलयज था
बिखरी पराग की गठरी,
या वेणु बजी मोहन की
धुन राधा के मन उतरी।

कितनी मनभावन थी वह
चंचल यौवन की क्रीड़ा,
जब बाँट लिया करते थे
दो हृदय परस्पर पीड़ा।

लज्जा में लगी कली सी
हँसने पर फूल खिले थे,
यौवन के मधुमय - कुंजों
में, हम तुम कभी मिले थे।

कितना सुखमय जीवन था
जब दो प्रेमी मिलते थे,
इस छोटी सी बगिया में
दो सुमन साथ खिलते थे।

बनकर सोने का सपना
नीरव पलकों में आयी,
ओझल होती नयनों से
मीठी सुखमय परछायी ।

है मुकुर स्वप्न का टूटा
टुकड़े बिखरे आँगन में,
चुभते रहते हैं प्रतिपल
मधुरिम यादों के क्षण में ।

तूफान उठा है भीषण
जाने क्या-क्या कर देगा ?
वीरान करेगा उपवन
या प्राणों को हर लेगा ?

अब बिलख रही है करुणा
विस्तृत नीरव निर्जन में,
वह तुम्हें ढूँढ़ती फिरती
पगली सी धरा गगन में।

बिखरी फूलों पर हैं जो
ये तुहिन-कणों की लड़ियाँ,
नीरव भावों पर छिटकीं,
हैं आँसू की फुलझड़ियाँ।

बह गया वायु का झोंका
जिसने सुमनों को तोड़ा,
है मेरे लिये नियति ने
केवल काँटों को छोड़ा।

प्राची के मुख पर अंकित
यह सूरज का मृदु चुंबन,
है जला रहा दावानल
सा मन का सुरभित उपवन ।

सूना - सूना पतझड़ सा
अब जीवन का मधुवन है,
छवि सुन्दर देखूँ कैसे
प्रिय ! टूटा मन - दर्पण है ?

यह ज्वालामुखी हृदय का
शीतल अंगार उगलता,
संँचय दुख का है इतना
होकर विस्फोट निकलता ।

आनंद असीम मिला था
मधुमय पराग पीने से,
अच्छा लगता मर जाना
अब घुट-घुट कर जीने से।

अब कितना सुख मिलता है
यों फूट-फूट रोने में,
जी भी हल्का हो जाता
निज पीड़ा के बोने में।

तुम चिर सुहागिनी ऊषा
मैं अन्धकार सा रोता,
मुसकाने में सुख तुमको
मुझको रोने में होता।

सीमा के बाहर दुख भी
सुख का कारण हो जाता,
तम रात - रात भर रोता
फिर ऊषा में खो जाता।

कर दिया अनावृत किसनें
यह ढकी हुयी चिनगारी,
अंतर को बेध रही है
मलयानिल की दोधारी।

झूले में विरह - मिलन के
मन मधुप झूलता झूला,
हँसते बसन्त को देखा
तो पतझारों को भूला।

थी परस तुम्हारा करके
राका चंदन थी मलती,
पर विरह - दशा में जाने
है धूप सदृश क्यों जलती ?

बीते बसन्त में सौरभ
सम्पृक्त सुमन यों खिलते,
पहिचाने दूर क्षितिज पर
ज्यों धरा - व्योम हैं मिलते।

हेमाभ - देह पर शोभित
वह हरे रंग का आँचल,
धीरे से बजा रहा हो
सावन बसन्त की साँकल।

अब तीरों सी चुभती हैं
रिमझिम करती बरसातें,
डसती काली नागिन सी
हैं विस्तृत सूनी रातें।

है सूनी तरु - शाखा सी
जीवन की करुण - कहानी,
अब शेष रह गयी केवल
कुछ मीठी याद पुरानी।

है श्यामल - घन से लिपटी
चाँदनी गगन में सोती,
विरही तारों की टोली
भी दृश्य देख यह रोती।

मैं तो भोला बादल था
ले गई वायु बहकाकर,
आतप से रस विनिमयकर
हैं भागी हाथ छुड़ाकर।

अब विरह-व्यथा सावन सी
इन आँखों में सोयी है,
बरसात हुई यादों की
या स्वप्न-शस्य बोयी है।

उन अंगूरी अधरों में
थी भरी हुई ज्यों हाला,
सपनों में भी लग जाया
करता अधरों से प्याला।

धर शीश हृदय पर किसके
मैं प्रेम - गीत गाऊँगा ?
पुलकन वह रोमावलियों
में कैसे भर पाऊँगा ?

जब-जब बह जाया करती
है यादों की पुरवाई,
आँखें मलती सी पीड़ा
उठ लेती है अँगड़ाई।

पलकों के बंदनवारों
में, गूँथे अश्रु के मोती,
बूँदें मन के दर्पण पर
हैं पड़ी रेणु को धोती।

है अनति दूर पर सरिता
से रहकर भी तरु प्यासा,
उन्मादमयी पावस की
है आशा बनी निराशा।

होती है इति आतप की
वर्षा ऋतु के आने पर,
होगी फुहार भी निष्प्रभ
यह प्राण निकल जाने पर।

मकड़ी सा निर्मित करता
मन स्वयं आप ही जाला,
अब ज्वाला से झुलसा है
हो गया मधुप सा काला।

जब-जब भर जाया करती
आंसू से दृग की गागर,
है रोम-रोम देता भर
रो स्वेद-कणों से सागर।

भटका तरु की छाया में
मृग-सा यौवन अज्ञानी,
खोजे मरुथल में प्यासा
केवल पानी ही पानी।

सौरभ मधुरिम यादों का
तन-मन में घुला-मिला है,
कुसुमित कुंजों से होकर
ज्यों मलय वात निकला है।

क्षण-भंगुर जीवन चपला-
सा, जग के नील पटल पर,
मिटता रहता है बनकर
ज्यों चित्र तरल जल-तल पर।

जो सारी रात जली थी
निष्कम्प दीप की बाती,
अब क्षीण हुई जाती है
बेला प्रभात की आती।

अनुराग मधुर बन जाता
जीवन का स्वप्न अधूरा,
है तृप्ति पूर्ण कर देती
मन को वैरागी पूरा।

बादल क्या जाने उनसे
धरती को है क्या आशा ?
निर्झर क्या जाने तपते
मरुस्थल की क्या अभिलाषा ?

किरणों के आतप ने है
लहरों की घटा बनायी,
बदले में सागर ने भी
करुणा की लड़ियाँ पायीं।

कल-कल करती सरिता भी
है करुणा नीर बहाती,
फिर गोदी में प्रेमी की
है चुपके से सो जाती।

लावण्ययुक्त जल लेकर
हैं मेघ सुधा बरसाते,
सागर असीम नयनों में
क्यों बसे नहीं ले जाते ?

सुखमय होता है कितना
जीवन में आत्म - विसर्जन,
होता असीम में सीमित
का उन्हीं क्षणों परिवर्तन ।

है आत्म विसर्जन पुष्पों
का सौरभ स्वयं लुटाना,
पल्लव - हिंडोल में मारुत
का सुमनों को दुलराना ।

सम्पुट में पंखुरियों के
आ मधुपों का सो जाना,
जी भर मकरंद पिलाना
फिर उनका ही हो जाना।

है अगणित सरिताओं
का, सागर तल में खो जाना,
पूनम के शशि का भू पर
है अमृत - कोष लुटाना।

जलनिधि के सीमित जल का
है मेघों में ढल जाना,
या नश्वर घट का मिट्टी
के, भूतल में मिल जाना।

दीपक, रवि, तारावलि का
कोमल आलोक बिछाना,
निर्झर, सरिता, मेघों का
है सबकी प्यास बुझाना ।

बीते दिन वे सोने के
अब लौट नहीं पायेंगे,
जो डाली पर मुरझाये
वे कैसे मुसकायेंगे ?

है मूर्ति हृदय के भीतर
दृग चारों ओर विचरते,
घन में चपला है फिर भी
घन उसको ढूँढ़ा करते ।

है नियति दीप की जलते
रहना तिल-तिल मुसकाना,
जग-जग को ज्योति-सुधा दे
तम के विष को पी जाना।

पीड़ा में घुल-घुल कज्जल
की धारा सी बन जाना,
बाती की तूली से फिर
कुछ रेखा-चित्र बनाना।

आतप लेकर जिस रवि का
यह जली दीप की बाती,
फिर उसमें ही लय होकर
है मुक्ति उसे मिल जाती।

वर्षा ऋतु की सरिता सा
उन्माद बड़ा गहरा था,
उस अनियंत्रित यौवन पर
भी संयम का पहरा था।

जल के वैभव से परिचित
हो सका न मन-उत्पल है,
स्वर्णिम किरणों से पायी
उसने मुसकान तरल है।

मन क्या जाने क्या होती
सुंदरता की परिभाषा ?
मुसकाने जाने कैसे
है आँसू की क्या भाषा ?

है गंध चुराकर जिनकी
यह रही वायु इठलाती,
निष्ठुर वह मुरझाने पर
मिट्टी में उन्हें मिलाती।

तुम तो अथाह सागर हो
मैं हूँ प्यासा का प्यासा,
समझे अतृप्ति भी कैसे
क्या पूर्ण तृप्ति की भाषा ?

नूतन विकास का अंकुर
देकर पतझड़ है जाता,
उपहार मृदुल सुमनों का
ले-कर बसंत है आता।

है दीप - वर्ति पर लगता
अगणित शलभों का मेला,
जो दूर - दूर रहता है
बचता है वही अकेला।

है घिरा सलिल से फिर भी
पंकज में कितना जल है?
रहता अलिप्त वैरागी
सा जग में हृदयोत्पल है।

ढूँढ़ा करतीं रवि - किरणें
हैं कुछ तुषार - अंचल में,
मन - मोती खोज रहा है
धुंधली यादों के तल में।

नीरवता चाहे मरघट
की, कोलाहल जन-रव का।

नभ के झूले से उतरी
भू पर कंचन की रेखा,
आतप विकीर्ण होते ही
रवि को मुसकाते देखा।

सिकता पर छोड़ चली है
सरिता अपनी रेखायें,
गीतों को स्वर दे देना
बीती यादें जब आयें।

पीड़ा है नभ सी विस्तृत
करते शब्दायित तारे,
पर मौन हुई भाषा भी
आकर अनंत के द्वारे।